

## नीति, धर्म और समाज

चींटीके प्रति सूक्ष्मतासे ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि वह अकेली नहीं रह सकती । वह किसीके साहचर्यकी तलाश करती है । पर उसे चींटीका तो क्या विजातीय चींटीका भी सहचार अनुकूल नहीं अच्छता । वह सजातीयके सहचारमें ही मस्त रहती है । ऐसे क्षुद्र जन्तुको छोड़कर अब दूसरे बड़े जन्तु पक्षीकी ओर ध्यान दीजिए । मुर्गसे बियुक्त मुर्गी मयूरके सहचारसे संतुष्ट नहीं होती । उसे भी स्वजातीयका ही साहचर्य चाहिए । एक बन्दर और एक हरिण ये दोनों स्वजातीय प्राणीके साथ रहकर जितनी प्रसन्नताका अनुभव करेंगे या अपने जीवनको दीर्घायु बना सकेंगे, उतनी मात्रामें चाहे जितनी सुखसामग्री मिलने पर भी विजातीयके सहचारमें प्रसन्न नहीं रह सकेंगे । मनुष्य जातिने जिस कुत्तेको अपनाकर अपना बफादार सेवक और सहचारी बनाया है, वह भी दूसरे कुत्तेके अभावमें अस्तुष्ट ही रहेगा । यही कारण है कि वह दूसरे कुत्तेके प्रति ईर्ष्या रखनेपर भी और दूरेको देख कर प्रारंभमें उससे लड़कर भी अन्तमें उसके साथ एकत्र होकर खिलवाड़ करने लग जाता है । सूक्ष्म जंतु, पक्षी और पशु जातिके इस नियमको हम मनुष्य जातिमें भी देखते हैं ।

पक्षी या पशुको पालतू बनाकर मनुष्य जंगलमें अकेला रहनेका कितना भी अभ्यास क्यों न करे पर अन्तमें उसकी प्रकृति मनुष्य जातिके ही साहचर्यकी तलाश करती है । समान रहन-सहन, समान आदतें, समान भाषा और शरीरकी समान रचनाके कारण सजातीय साहचर्यकी तलाशकी वृत्ति हम जीवमात्रमें देखते हैं । फिर भी मनुष्यके सिवाय किसी सी जीववर्ग या देहधारी वर्गको हम समाजका नाम नहीं देते । वह वर्ग समुदाय या गण भले ही कहा जाय किन्तु समाज होनेकी पात्रता तो मनुष्य जातिमें ही है । और

उसका कारण यह है कि मनुष्यमें ऐसी बुद्धि-शक्ति और विवेक-शक्तिका बीज है कि वह अपना रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा, खान-पान और अन्य संस्कारोंका परिवर्तन कर सकता है, अभ्यास कर सकता है। मनुष्य जब चाहे तब प्रयत्नसे दूसरी भाषा सीख सकता है और अन्य-भाषाभाषी लोगोंके साथ सरलतासे झुल-मिल जाता है। वेश-भूषा और खान-पान बदल कर या बिना बदले उदारताका अभ्यास करके भिन्न प्रकारके वेश-भूषा और खान-पानवाले मनुष्योंके साथ बस कर सरलतासे जिदगी बिता सकता है। दूसरोंका जो अच्छा हो उसे लेनेमें और अपना जो अच्छा हो उसे दूसरोंको देनेमें सिर्फ मनुष्य प्राणी ही गौरवका अनुभव करता है। भिन्न देश, भिन्न रंग और भिन्न संस्कारवाली मानव-प्रजाके साथ केवल मनुष्य ही एकता सिद्ध करके उसे विकसित कर सकता है। इसी शक्तिके कारण मनुष्यका वर्ग समाज नामके योग्य हुआ है।

मनुष्य जहाँ कहीं होगा किसी न किसी समाजका अंग होकर रहेगा। वह जिस समाजका अंग होगा उस समाजके ऊपर उसके अच्छे बुरे संस्कारका असर होगा ही। यदि एक मनुष्य वीडो पीता होगा तो वह अपने आसपासके लोगोंमें वीडोकी तल्प (तड़प) जागरित करके उस व्यसनका वातावरण खड़ा करेगा। अफीम खानेवाला चीनी अपने समाजमें उसीकी रुचि बढ़ावेगा। यदि कोई वस्तुतः शिक्षित होगा तो वह अपने समाजमें शिक्षाका वातावरण जाने अनजाने खड़ा करेगा। इसी प्रकारसे समस्त समाजमें या उसके अधिकांशमें जो रसूम और संस्कार रूढ़ हो गये होते हैं—चाहे वे इष्ट हों या अनिष्ट, उन रसूमों और संस्कारोंसे उस समाजके अंगभूत व्यक्तिके लिए मुक्त रहना अशक्य नहीं तो दुःशक्य तो होता ही है। तार या टिकट आफिसमें काम करनेवालोंमें अथवा स्टेशनके कर्मचारियोंके बीचमें एकाध व्यक्ति ऐसा जाकर रहे जो रिश्वतसे नफरत करता हो, इतना ही नहीं किन्तु कितनी ही रिश्वतकी लालच उसके सामने क्यों न दिखाई जाय फिर भी जो उसका शिकार बनना न चाहता हो, तो ऐसे सच्चे व्यक्तिको शेष सब रिश्वतखोर वर्गकी ओरसे बड़ा भारी आस होगा। क्योंकि वह स्वयं रिश्वत नहीं लेगा, इसका मतलब यह है कि वह स्वभावतः दूसरे रिश्वतखोरोंका विरोध करेगा और इसका फल यह होगा कि दूसरे लोग एक साथ इस प्रयत्नमें लग जायेंगे कि या तो वह रिश्वत ले या उन सबके द्वारा परेशान हो। यदि उक्त सच्चा

व्यक्ति असाधारण साहसी और बुद्धिमान् न हो तो वह इतना ही करेगा कि दूसरोंके रिश्तलेने पर तटस्थ रह जायगा, विरोध नहीं करेगा। ऐसा होने पर ही उसकी गाड़ी उन सबके बीच चल सकेगी। इसी न्यायसे हमारे देशी आई० सी० एसोंको परदेशियोंके बीच बहुत बार बहुत अनिष्ट सहना पड़ता है। तब ऐसे अनिष्टोंसे समाजको बचानेके लिए समाजके नायक या राजशासन करनेवाले कायदे कानून बनाते हैं या नीति-नियमोंका सृजन करते हैं। किसी समय बड़ी उम्र तक कन्याओंको अविवाहित रखनेमें अमुक अनिष्ट समाजको प्रतीत हुआ, तो स्मृतिशास्त्रमें नियम बनाया गया कि आठ या नव वर्षकी कन्या जब तक गौरी हो, शादी कर देना धर्म है। इस नियमका उल्लंघन करनेवाला कन्याका पिता और कन्या दोनों समाजमें निन्दित होते थे। उस भयसे समाजमें बाल-विवाहकी प्रथा चल पड़ी। और जब इस नीतिके अनुसरणमें अधिक अनिष्ट होने लगा तब समाजके नायकों और राजकर्ताओंके लिए दूसरा नियम बनाना आवश्यक हो गया। अब चौदह या सोलह वर्षसे कम उम्रमें कन्याका ब्याह करते हुए लोग शिक्षितोंद्वारा की जानेवाली निन्दासे डरते हैं या राज्यके दण्ड-भयसे नियमका पालन करते हैं। एक कर्जदार व्यक्ति अपना कर्ज चुकानेके लिए तस्पर रहता है, यह इस लिए कि यदि वह कर्ज नहीं चुका देगा तो उसकी शाख-प्रतिष्ठा चली जायगी, और यदि शाख चली गई तो कोई उसे कर्ज नहीं देगा और ऐसा होनेसे उसके व्यापारमें हानि होगी। इस तरह यदि देखा जाय तो प्रतीत होगा कि समाजके प्रचलित सभी नियमोंका पालन लोग भय या स्वार्थवश करते हैं। यदि किसी कार्यके करने या न करनेमें भय या लालच न हो तो उस कार्यको करने या न करनेवाले कितने होंगे, यह एक बड़ा प्रश्न है। कन्या भी पुत्रके ही समान संतति है, इसलिए उसका पुत्रके समान हक होना चाहिए, ऐसा समझ कर उसे दहेज देनेवाले माता-पिताओंकी अपेक्षा ऐसे मातापिताओंकी संख्या अधिक मिलेगी जो यही समझ कर दहेज देते हैं कि यदि उचित दहेज नहीं दिया जायगा तो कन्याके लिए अच्छा घर मिलना मुश्किल हो जायगा या प्रतिष्ठाकी हानि होनेसे अपने पुत्रोंको अच्छे घरकी कन्या नहीं मिलेगी। यही भय या स्वार्थ प्रायः संतानकी शिक्षाके विषयमें भी कार्य करता है। यही कारण है कि उक्त उद्देश्यकी सिद्धि होने पर लड़का या लड़की योग्य होने पर

भी उनकी शिक्षा समाप्त कर दी जाती है। क्यों कि वह शिक्षा शिक्षाके लिए नहीं दी जाती थी। यही बात कितने ही समाजोंके पुनर्विवाहके प्रतिबन्धके विषयमें भी देखी जाती है। जिस समाजमें पुनर्विवाह नहीं होते उसमें भी अनेक स्त्री-पुरुष ऐसा स्पष्ट माननेवाले होते हैं कि 'बलात्कारसे वैधव्य' धर्म नहीं है, फिर भी यदि उनकी छोटी बहन या पुत्री विधवा हो जाती है तो उसकी इच्छा होनेपर भी उसका पुनर्विवाह कर देनेको वे तैयार नहीं होते। प्रायः ऐसा भी होता है कि वे पुनर्विवाहके विरुद्ध अनिच्छासे भी चौकी करने लग जाते हैं। बलात्कारसे ब्रह्मचर्यकी इस नीतिके पीछे भय और स्वार्थको छोड़कर अन्य कुछ भी हेतु नहीं होता। गृहस्थकी बात जाने दें। त्यागी या गुरु माने जानेवाले वर्गकी भीतरी बात देखें तो प्रतीत होगा कि उनके भी अधिकांश नीति-नियम और व्यवहार भय या स्वार्थसे प्रेरित होते हैं। किसी त्यागीके शिष्य दुराचारी हो जायें या स्वयं गुरु ही भ्रष्ट हो जाय तो उन शिष्योंका वह गुरु, शिष्योंकी वृत्तिमें सुधार हुआ है या नहीं यह बिना देखे ही, उन्हें भेदधारी रखनेका पूर्ण प्रयत्न करेगा। क्यों कि उसे शिष्योंकी भ्रष्टताके कारण अपनी प्रतिष्ठाकी हानिका भय रहता है। आचार्यके भ्रष्ट होनेपर भी उसके सांप्रदायिक अनुयायी उसे पदभ्रष्ट करनेमें हिचकिचाते हैं। इतना ही नहीं किन्तु उसपर बलात्कार ब्रह्मचर्य थोप देते हैं। क्यों कि उन्हें अपने संप्रदायकी प्रतिष्ठाकी हानिका डर रहता है। पुष्टिमार्गी आचार्यका पुनः पुनः स्नान और जैनधर्मके साधुका सर्वथा अस्नान यह अक्सर सामाजिक भयके कारण ही होता है। मौलवीके गीतापाठमें और पंडितके कुरान-पाठमें भी सामाजिक भय ही प्रायः बाधक होता है। इन सामाजिक नीति-नियमों और रीति-रस्मोंके पीछे प्रायः भय और स्वार्थ ही होते हैं। भय और स्वार्थसे अनुष्ठित नीति-नियम सर्वथा त्याज्य निकम्मे ही हैं या उनके बिना भी चल सकता है, यह प्रतिपादन करनेका यहाँ अभिप्राय नहीं है। यहाँ तो इतना ही बताना अभिप्रेत है कि धर्म और नीतिमें फर्क है।

जो बन्धन या कर्तव्य, भय या स्वार्थमूलक होता है, वह है नीति। किन्तु जो कर्तव्य, भय या स्वार्थमूलक न होकर शुद्ध कर्तव्यके तौरपर होता है और जो सिर्फ उसकी योग्यताके ऊपर ही अवलम्बित होता है, वह है धर्म। नीति और धर्मके बीचका यह फर्क तुच्छ नहीं है। यदि हम तनिक गहराईसे सोचें तो

## नीति, धर्म और समाज

यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि नीति समाजके धारण और पुष्टिके लिए आवश्यक होनेपर भी उससे समाजका संशोधन नहीं होता। संशोधन अर्थात् शुद्धि, और शुद्धि ही सच्चा विकास है। यदि यह धारणा वास्तविक हो तो कहना चाहिए कि वैसा विकास धर्मके बिना नहीं हो सकता। जिस समाजमें उक्त धर्मका जितने अंशमें अधिक पालन होता हो वह समाज उतने अंशमें उच्चतर है। इस वस्तुको स्पष्ट करनेके लिए कुछ दृष्टांतोंपर विचार किया जाय।

दो व्यक्तियोंको कल्पनामें रखा जाय। उनमेंसे एक तो टिकट मास्टर है जो अपना हिसाब संपूर्ण सावधानीपूर्वक रखता है और रेलवे-विभागको एक पाईका भी नुकसान न हो इसका ध्यान रखता है। वह इसलिए कि यदि भूल होगी तो वह दंडित होगा, और नौकरीसे भी बरखास्त किया जायगा। इतना सावधान भी वह यदि दूसरा भय न हो तो मुसाफिरोंके पाससे रिश्वत लेनेसे नहीं चूकता। किन्तु हमारी कल्पनाका दूसरा स्टेशन मास्टर रिश्वत लेनेका और उसके हजम हो जानेका कितना ही अनुकूल प्रसंग क्यों न हो, रिश्वत नहीं लेता और रिश्वत-खोरीके वातावरणको भी पसंद नहीं करता। इसी प्रकार एक त्यागी व्यक्ति खुले तौरसे पैसे लेनेमें और अपने पास रखनेमें अकिञ्चन ब्रतका भंग मानकर पैसे नहीं लेता और न अपने पास संग्रह करता है। फिर भी यदि वस्तुतः उसके मनमें अकिञ्चन्य भावकी जागृति नहीं हुई होगी अर्थात् लोभका संस्कार नष्ट नहीं हुआ होगा, तो वह धनिक शिष्योंका संग्रह करके अभिमान करेगा और उससे मानो वह स्वयं धनवान् हो गया हो, इस प्रकार दूसरोंसे अपनेको उन्नत मानता हुआ अपने गौरवपूर्ण अहंपनका प्रदर्शन करेगा। जब कि दूसरा यदि वह सच्चा त्यागी होगा तो मासिक दनकर रुपये अपने पास रखेगा ही नहीं और यदि रखेगा तो उसके मनमें अभिमान या अपने स्वामित्वका गौरव तनिक भी न होगा। यद्यपि वह अनेक धनिकोंके बीचमें रहता होगा, और अनेक धनिक उसकी सेवा करने होंगे फिर भी उसका उसे अभिमान नहीं होगा या उनके कारण अपनेको दूसरोंसे उन्नत भी नहीं मानेगा। इस प्रकार यदि किसी समाजमें केवल नैतिक दृष्टिसे त्यागी वर्ग होगा तो परिणामतः वह समाज उन्नत या शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उस समाजमें त्यागीके वेशमें भोगोंका सेवन इस

प्रकार होगा जिससे त्यागका पालन भी माना जाय और भोगोंका सेवन भी पुष्ट हो। ऐसी स्थितिमें त्वागी वर्गमें गृहस्थोंकी तरह खुले तौरपर धनसंग्रहकी स्पर्धा नहीं होनेपर भी दूसरेकी अपेक्षा अपने पास अधिक धनिक शिष्योंको फुसलाकर समझाकर फँसाकर अपना कर रखनेकी गूढ़ स्पर्धा तो अवश्य होगी। और ऐसी स्पर्धामें पड़कर वे जानमें या अनजानमें समाजकी सेवा करनेके बजाय कु-सेवा ही अधिक करेंगे। इसके विपरीत समाजमें यदि धार्मिक दृष्टिसे त्यागीवर्ग होगा तो उसमें न होगी जैसे संग्रहकी स्पर्धा और न होगी धनिक शिष्योंको अपने ही बनाकर रखनेकी फिक्र। अर्थात् वह शिष्य-संग्रह या शिष्य-परिवारके विषयमें अत्यन्त निश्चिन्त होगा और इस प्रकार सिर्फ अपने सामाजिक कर्तव्योंमें ही प्रसन्नताका लाभ करेगा। ऐसे वर्गके दो त्यागियोंके बीच न होगी स्पर्धा और न होगा क्लेश। इसी प्रकार जिस समाजमें वे रहते होंगे उसमें भी कोई क्लेशका प्रसंग उपस्थित न होगा। इस प्रकार हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि किसी समाजमें नैतिक दृष्टिसे कितने ही त्यागी क्यों न हों फिर भी उनसे उस समाजका कल्याण न होकर अकल्याण ही अधिक होगा। इसके विपरीत किसी समाजमें धार्मिक दृष्टिसे सिर्फ एक ही त्यागी क्यों न हो फिर भी वह अकेला ही समाजकी शुद्धि अत्यधिक मात्रामें करेगा।

एक दूसरा दृष्टान्त लें। एक संन्यासी भोग-वासनाका अधिर्भाव होने पर भी समाजमें अपयशके भयसे बाह्य रूपसे त्यागी रहकर भी अनाचागका सेवन करता रहता है। जब कि दूसरा त्यागी वैसी वासनाके प्रकट होने पर यदि उसका दमन नहीं कर सकता तो चाहे कितना भी अपयश और तिरस्कार क्यों न हो फिर भी स्पष्ट रूपसे गृहस्थ हो जाता है। विचार करनेसे उस नैतिक दृष्टिसे रहे हुए त्यागीकी अपेक्षा यह भोगी त्यागी ही समाजकी शुद्धिका अधिक रक्षक है। क्योंकि प्रथमने भयका पराजय नहीं किया जब कि दूसरेने भयको पराजित करके आन्तर और बाह्यका ऐक्य सिद्ध करके नीति और धर्म दोनोंका पालन किया है। इतनी लम्बी चर्चासे यह स्पष्ट हो गया है कि समाजकी सच्ची शुद्धि और सच्चे विकासके लिए धर्मको ही अर्थात् निर्भय निःस्वार्थ और ज्ञानपूर्ण कर्तव्यको ही आवश्यकता है। अब हमें देखना चाहिए कि विश्वमें वर्तमान कौनसे पंथ, संप्रदाय या धर्म ऐसे हैं जो यह दावा कर सकते हों कि हमने ही मात्र धर्मका पालन करके समाजकी अधिक संशुद्धि की है।

इसका उत्तर स्पष्ट है और वह यह कि विश्वमें ऐसा एक भी पंथ, संप्रदाय या धर्म नहीं जिसने मात्र धर्मका ही आचरण किया हो और उसके द्वारा समाजकी केवल शुद्धि ही की हो। यदि कोई संप्रदाय या पंथ अपनेमें होने-वाली कुछ सत्यनिष्ठ धार्मिक व्यक्तियोंका निर्देश करके समाजकी शुद्धि सिद्ध करनेका दावा करता है तो वैसा दावा दूसरा विरोधी पंथ भी कर सकता है। क्योंकि प्रत्येक पंथमें कम या अधिक संख्यक ऐसे सच्चे त्यागी व्यक्तियोंके होनेका इतिहास हमारे समक्ष मौजूद है। धर्मके तथाकथित बाह्यरूपोंके आधारसे ही समाजको माप कर किसी पंथको धार्मिक होनेका प्रमाणपत्र नहीं दिया जा सकता। क्योंकि बाह्य रूपोंमें परस्पर इतना विरोध होता है कि यदि उसीके आधारसे धार्मिकताका प्रमाणपत्र दे दिया जाय तो या तो सभी पंथोंको धार्मिक कहना होगा या सभीको अधार्मिक।

उदाहरणके तौरपर कोई पंथ मंदिर और मूर्तिपूजाके अपने प्रचारका निर्देश करके ऐसा कहे कि उसने उसके प्रचारके द्वारा जनसमाजको ईश्वरको पहचाननेमें या उसकी उपासनामें पर्याप्त सहायता देकर समाजमें शुद्धि सिद्ध की है, तो इसके विपरीत उसका विरोधी दूसरा पंथ यह कहनेके लिए तैयार है कि उसने भी मंदिर और मूर्तिके ध्वंसके द्वारा समाजमें शुद्धि सिद्ध की है। क्योंकि मंदिर और मूर्तियोंको लेकर जो बहमोंका साम्राज्य, आलस्य और दंभकी वृद्धि हो रही थी उसे मंदिर और मूर्तिका विरोध करके कुछ मात्रामें रोक दिया गया है। एक पंथ जो तीर्थस्थानकी महिमा गाता और बढ़ाता हो वह शारीरिक शुद्धिद्वारा मानसिक शुद्धि होती है, ऐसी दलीलके सहारे अपनी प्रवृत्तिको समाज-कल्याणकारी सिद्ध कर सकता है, जब कि उसका विरोधी दूसरा पंथ स्नान-नियन्त्रणके अपने कार्यको समाज-कल्याणकारी साबित करनेके लिए ऐसी दलील दे सकता है कि बाह्य स्नानके महत्त्वमें फँसनेवाले लोगोंको उस रास्तेसे हटाकर आन्तरिक शुद्धि-की ओर ले जानेके लिए स्नानका नियन्त्रण करना ही हितवह है। एक पंथ कंठी बँधाकर और दूसरा उसे तुड़वाकर समाजकल्याणका दावा कर सकता है। इस तरह धर्मके बाह्य रूपके आधारपर जो प्रायः परस्पर विरोधी होते हैं

यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि अमुक पंथ ही सच्चा धार्मिक है और उसीने समाजमें सच्ची शुद्धि की है।

फिर क्या ऐसी कोई भूमिका है जो सर्वसामान्य हो और जिसके आधारपर निर्विवाद रूपसे यह कहा जा सके कि बाह्यरूप कैसा भी क्यों न हो किन्तु यदि वह वस्तु विद्यमान है तो उससे समाजका ऐकान्तिक कल्याण ही होगा और वह वस्तु जिस पंथ, जाति या व्यक्तिमें जितने अंशमें ज्यादा होगी उतने अंशमें उस जाति पंथ या व्यक्तिसे समाजका अधिक कल्याण ही किया है ? वस्तुतः ऐसी वस्तु है और वह ऊपरकी चर्चासे स्पष्ट भी हो गई है। वह है निर्भयता, निर्लेपता और विवेक। व्यक्ति या पंथके जीवनमें यह है या नहीं यह अत्यंत सरलतासे जाना जा सकता है। जैसा मानना वैसा ही कहना और कहनेसे विपरीत नहीं चलना अथवा जैसा करना वैसा ही कहना—यह तत्त्व यदि जीवनमें है तो निर्भयता भी है। ऐसी निर्भयताको धारण करनेवाला नौकर सेठसे डर कर किसी बातको नहीं छुपाएगा और कैसा भी जोखिम सिरपर लेनेको तैयार रहेगा। कोई भी भक्त गृहस्थ अपने बड़प्पनकी हानिके भयसे धर्मगुरुके सामने अथवा कहीं भी दोषोंको छिपानेका अथवा बड़प्पनका मिथ्या दिखावा करनेका ढोंग करनेके बजाय जो कुछ सच होगा उसे प्रकट कर देगा। कोई भी धर्मगुरु यदि वह निर्भय होगा तो अपना पाप तनिक भी गुप्त नहीं रखेगा। इसी प्रकार जो निर्लेभ होगा वह अपना जीवन बिलकुल सादा बनावेगा। निर्लेभ पंथके ऊपर बहुमूल्य कपड़ों या गहनोंका भार नहीं होगा। यदि किसी पंथमें निर्लेपता होगी, तो वह अपनी समग्र शक्तियाँ एकाग्र करके दूसरोंकी सेवा लेकर ही संतुष्ट नहीं होगा। यदि विवेक होगा तो उस व्यक्ति या पंथका किसीके साथ क्लेश होनेका कोई कारण ही नहीं रहेगा। वह तो अपनी शक्ति और संपत्तिका सदुपयोग करके ही दूसरोंके हृदयको जीतेगा। विवेक जहाँ होता है वहाँ क्लेश नहीं होता और जहाँ क्लेश होता है वहाँ विवेक नहीं होता। इस प्रकार हम किसी व्यक्ति या पंथमें धर्म है या नहीं, यह सरलतासे जान सकते हैं और उक्त कसौटीसे जाँच कर निश्चित कर सकते हैं कि अमुक व्यक्ति या पंथ समाजके कल्याणके लिए है या नहीं।

जातिमें महाजन पंच, पंथमें उसके नेता और समस्त प्रजामें शासनकर्ता



नीतिका निर्माण करते हैं, देशकालानुसार उसमें परिवर्तन करते हैं और उसका पालन करवाते हैं। फिर भी समाजकी शुद्धिका कार्य अवशिष्ट रह जाता है। यह कार्य कोई महाजन, पंडित या राजा सिर्फ अपने पदके कारण सिद्ध नहीं कर सकता। जब कि यही कार्य मुख्य है, और यही कार्य करना परमात्माका सन्देश है। जिस व्यक्तिको इस कार्यकी लगन हो उसे दूसरोंको उपदेश देनेकी बजाय अपने जीवनमें ही धर्म लाना चाहिए। यदि जीवनमें धर्मका प्रवेश हुआ तो उतने अंशमें उसका जीवन समाजकी शुद्धि सिद्ध करेगा, फिर भले ही वह दूसरोंको शुद्ध होनेका उपदेश वचन या लेखनसे न देता हो। समाजकी शुद्धि जीवन-शुद्धिमें समाविष्ट है और जीवन-शुद्धि ही धर्मका साध्य है। इसलिए यदि हमें समाज और अपने जीवनको नीरोग रखना है तो स्वयं अपनेमें उक्त धर्म है या नहीं, और है तो कितनी मात्रामें, इसका निरीक्षण करना चाहिए। धार्मिक माने जानेवाले पर्वके दिनोंमें यदि अपना निरीक्षण करनेकी आदत डाली जाय तो वह सदैवके लिए स्थायी होगी और ऐसा होनेसे हमारे सामने उपस्थित विशाल समाज और राष्ट्रके बटकके रूपमें हमने भी अपना कुछ हिस्सा अदा किया है, ऐसा कहा जायगा।

[ पर्युषण-व्याख्यानमाला, बम्बई, १९३२। अनु०—प्रो० दलसुख भाई ]